

निस्तेज धर्मनिरपेक्षता और सांप्रदायिक विद्वेष

□ रोहित धनकर

गोधरा के बाद गुजरात में हुआ नृशंसता का ताण्डव हिन्दू मुसलमानों के बीच पनपते विद्वेष और घृणा की एक और अभिव्यक्ति है। इस विद्वेष के मूल में एक दूसरे को शंका और डर की निगाह से देखना है। वैसे तो दोनों ही समुदायों में एक दूसरे के प्रति विद्वेष कोई छुपी बात नहीं है। इस की अभिव्यक्ति समय-समय पर दंगों के माध्यम से होती ही रही है। पर इस बार यह घृणा की घोषणा एकदम निसंकोच और बहुत भयावह तरीके से हुई है। दोनों समुदायों के कट्टर पंथियों में तो एक-दूसरे समुदाय के प्रति विद्वेष पहले भी जाहिर ही था। पर गुजरात ने यह सिद्ध किया कि जहर का वास्तविक फैलाव केवल कट्टरपंथियों के दायरे से कहीं ज्यादा व्यापक है। सवाल यह उठता है कि स्वतंत्रता के बाद पिछली आधी शताब्दी में यह विद्वेष कम क्यों नहीं हुआ? बढ़ा क्यों है?

जाहिर है इस सवाल का कोई एक साफ-सुथरा सरल सा उत्तर नहीं हो सकता। इस घृणा और विद्वेष के बढ़ने के एक नहीं कई कारण हैं। स्थानीय आर्थिक-राजनैतिक प्रतिस्पर्धायें हैं; राष्ट्रीय राजनीति का वोटबैंक-वादी निर्लज्ज चेहरा है; विश्व स्तर पर उभरा धार्मिक, विशेष रूप से इस्लामी कट्टरवाद है; आदि आदि। पर किसी भी राष्ट्र को अपने अन्दरूनी समूहों की आपसी स्पर्धा का नियमन एवं उस पर नियंत्रण करना ही होता है। इसी तरह विश्व भर में चलने वाली अच्छी-बुरी वैचारिक हवाओं को भी झेलना ही होता है। पर हम तो इन के सामने पस्त हुए जा रहे हैं। दोनों समुदायों के बीच भरोसा और भाईचारा खत्म हो रहा है। इस लेख में मैं यह दिखाने की कोशिश करूंगा कि इस बढ़ते विद्वेष का एक कारण हमारी निस्तेज और निष्प्रभावी धर्मनिरपेक्षता भी है। क्योंकि धर्मनिरपेक्षता का यह भारतीय रूप धार्मिक विद्वेष बढ़ाने वाले सभी कारणों को खुलकर खेलने का अवसर देता है। हमारी धर्मनिरपेक्षता इस कदर सकुचाई, मरी-मरीसी और दुविधाग्रस्त रही है कि जिस किसी भी धूर्त ने उसे आंखें दिखाई उसी के सामने घुटने टेक दिये। फिर चाहे वह मुसलमानों का इमाम हो, हिन्दुओं का पाखण्डी साधू हो, सिखों का झूठा संत हो या विकास का चोगा पहन कर ईसा की भेड़ें ढूढ़ने वाला शातिर मिशनरी हो। यह दुविधाग्रस्त भारतीय धर्मनिरपेक्षता इनमें से किसी को भी अपनी सीमाओं में नहीं रख पाई है।

भारत घोषित रूप से धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। संविधान सभा की राय इस विषय में स्पष्ट थी। इस सभा में एक प्रस्ताव रखा गया था कि संविधान की प्रस्तावना से पहले "इन द नेम ऑफ गॉड" शब्द जोड़ दिये जायें। इस प्रस्ताव पर मतदान हुआ और इसे अस्वीकार किया गया। क्योंकि "भगवान के नाम" पर आरंभ करने को धार्मिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार एवं प्रस्तावना की मूल भावना के साथ असंगत माना गया। इस का आशय यह है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य के क्रियाकलापों में ईश्वर का किसी प्रकार का आवाहन कम से कम संविधान सम्मत धर्मनिरपेक्षता का हिस्सा तो नहीं है। इस के बावजूद उसी भारत में, उसी संविधान की छत्र-छाया में चलने वाले सरकारी विद्यालयों में दिन का आरंभ ईश्वर की या किसी देवी-देवता की प्रार्थना से ही होता है। ऐसे भी कई विद्यालय हैं जहां दिन का आरंभ गायत्री मंत्र से होता है। किसी भी विद्यालय की दीवारों पर विभिन्न धार्मिक वचन लिखे मिल जायेंगे। ये प्रार्थनायें और दीवारों पर लिखे वचन अधिकतर बहुसंख्यकों अर्थात् हिन्दुओं के धर्म से संबंधित होते हैं। इसी तरह

बहुसंख्यक धर्म के प्रतीक विभिन्न सरकारी दफ्तरों और समारोहों में भी बहुतायत में मिलेंगे । बहुसंख्यकों को यह सब निश्चय ही एकदम स्वाभाविक और उचित लगता है । कितना स्वाभाविक और उचित, यह कुछ साल पहले मुझे एक घटना से स्पष्ट हुआ । एक अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठी में यह सवाल उठा कि धर्मनिरपेक्ष भारत के सरकारी विद्यालयों में, जहां मुस्लिम बच्चे भी पढ़ते हैं, सरस्वती वंदना कहां तक उचित है ? गोष्ठी में उपस्थित लोगों में से कई प्रबुद्ध शिक्षाविदों का जवाब था कि सरस्वती तो ज्ञान की और कलाओं की धर्मनिरपेक्ष देवी है । उसकी वंदना से धर्म निरपेक्षता खण्डित नहीं होती । यह जवाब देने वाले लोग न तो कट्टरपंथी थे, न ही हिन्दुत्व-वादी । ये लोग अपने विचारों में खुले एवं शिक्षा के जानकार लोग थे । किसी भी धर्म के प्रति या उस धर्म को मानने वाले लोगों के प्रति इनके मन में कोई दुराग्रह नहीं था । सरस्वती वंदना का यह स्पष्टीकरण भारतीय धर्मनिरपेक्षता की तासीर बताता है, और यह बताता है कि सरकारी उपक्रमों के माध्यम से हिन्दू प्रतीकों का प्रस्थापन हिन्दुओं को कितना सहज एवं स्वीकार्य लगता है । यह धर्मनिरपेक्षता के एक पहलू पर बहुसंख्यकों की वैचारिक स्थिति है । इस भावना के विपरीत लगने वाली घटनायें भी होती हैं । उदाहरणार्थ शिक्षामंत्रियों की एक बैठक में सरस्वती वंदना को लेकर विरोध हुआ और कई मंत्री उठकर बाहर चले गये । पर यह महज एक राजनैतिक नाटक था, क्योंकि उन्हीं मंत्रियों के विभागों के अधीन विद्यालयों में उस बहिष्कार वाले दिन भी हजारों जगह सरस्वती वंदना हुई थी । और ये मंत्री-गण स्वयं कई ऐसे सरकारी समारोहों में शामिल होते रहे हैं, उस घटना के पहले भी और बाद में भी, जहां धार्मिक प्रतीकों का खुलकर प्रयोग होता है। ये दो घटनायें हमारी धर्मनिरपेक्षता की दिमागी धुंध और उसके पीछे छिपे छद्म को उजागर करती है।

यह सुविधा—धर्म के प्रतीकों की सरकारी उपक्रमों के माध्यम से स्थापना की सुविधा—केवल बहुसंख्यकों को मिलती रही है । अल्पसंख्यक मोटे तौर पर इस सुविधा से वंचित रहे हैं । पर वे भी धर्मनिरपेक्षता के निस्तेज होने का लाभ उठाने में किसी भी तरह पीछे नहीं रहे हैं । उनके धार्मिक विश्वासों, धर्मग्रंथों एवं धार्मिक पुरुषों के बारे में किसी भी प्रकार के समालोचनात्मक चिंतन की अभिव्यक्ति पर पाबंदी रही है । मुहम्मद के जीवन के बारे में, उसके काम व व्यवहार के बारे में, उसके व्यवहार के औचित्य-अनौचित्य के बारे में, कोई विमर्श संभव नहीं रहा है। जब भी कोई इन विषयों पर लिखने का प्रयत्न करता है तो उसे धमकियां मिलने लगती हैं । अल्पसंख्यक नेता एवं कथाकथित धर्मनिरपेक्षता को भुनाने वाले लोग शांति भंग होने का अंदेशा कुछ इस अंदाज में बयां करते हैं कि वह धमकी लगे । सरकार तुरंत हरकत में आती है और पुस्तक पर पाबंदी लग जाती है । कुछ उदाहरण तो प्रसिद्ध हैं ही, पर वास्तव में ऐसी छोटी-मोटी ढेरों पुस्तकें हैं जिन पर इसी प्रकार के कारणों से प्रतिबंध लगा है। यह विचार की एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर धर्म विशेष की गहरी चोट है । मुसलमान इस्लाम के बारे में लिखते हैं, छापते हैं और विभिन्न माध्यमों से लोगों तक पहुंचाते भी है। पर इस लेखन पर टिप्पणी करने की स्वतंत्रता नहीं देना चाहते । या टिप्पणी करनी ही हो तो इस्लाम के मानने वालों की विचारधारा के अनुकूल ही की जा सकती है।

हिन्दू धर्म में आलोचना को डराकर चुप करा देने की यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम रही है । पर अपने आप को हिन्दू कहने वाला तबका इससे मुक्त भी नहीं रहा है। हुसैन के सरस्वती का चित्र बनाने पर हिन्दुत्ववादियों द्वारा उठाया गया बवण्डर ताजा बात है। पर लगभग सौ वर्ष पहले राजा रवि वर्मा पर भी हिन्दू देवी देवताओं के चित्र बनाने को लेकर मुकदमा चल चुका है । और अभी अस्सी के दशक के उत्तरार्द्ध के बाद तो यह सापेक्ष-खुलापन भी लगभग पूरी तरह समाप्त हो चुका है । आज यदि आप मुहम्मद के क्रियाकलापों और सिद्धांतों को सार्वजनिक

रूप से विवेचित नहीं कर सकते तो राम के तथा-कथित आदर्शों की आलोचना भी नहीं कर सकते।

यह प्रवृत्ति लोगों को धर्माधता की तरफ ले जाने का एक कारगर तरीका है। विवेक सम्मत समालोचना, शंका की अभिव्यक्ति और ईश्वर में विश्वास न रखने वालों को अपनी बात कहने से रोकने का तरीका है। हमारी धर्मनिरपेक्ष सरकार इसके सामने बराबर घुटने टेकती रही है। भारतीय बुद्धिजीवी की भी बहुत कम हिम्मत होती है धर्म पर बेबाक लिखने की। वे इस विषय से या तो कतराते हैं या फिर कुछ लुंज-पुंज सा लिख देते हैं जिसके कई महत्वहीन से अर्थ निकल सकें। इस वैचारिक कायरता को उचित ठहराने के लिए जनभावनाओं का ख्याल रखने की दुहाई दी जाती है। इस पर जिम्मेदार लेखन का मुलम्मा भी चढ़ाया जाता है। मुझे लगता है कि बात इससे कहीं ज्यादा गहरी है। भारतीय मानस धर्म के बारे में सर्वग्राही रहा है, कि यह भी ठीक, वह भी ठीक, सभी ठीक। यह बौद्धिक श्रम से बचने का एवं बौद्धिक कायरता को छुपाने का अच्छा तरीका है। यह सत्य के किसी व्यापक एवं सर्वसम्मत दर्शन का परिणाम नहीं है, हालांकि अधिकतर भारतीय इसकी यही व्याख्या करेंगे। यह वास्तव में जटिल परिस्थिति के सामने हाथ खड़े कर देने का संकेत है। निर्णय लेने एवं उसका फल भुगतने के लिए आवश्यक साहस की कमी का परिचायक है। इस मानसिकता के कई घातक परिणाम निकलते हैं। एक, सत्य की एक ऐसी संकल्पना उभरती है जिसे पा लेने की कल्पना मात्र से अपराध बोध होने लगे। सत्य पाने की नहीं, नतमस्तक होने की चीज बन जाती है। दो, जब सत्य पाया ही नहीं जा सकता तो सुविचारित जीवन असंभव हो जाता है। सभी उचित है और कोई भी कर्म प्रभावी कर्म है। अतः जीवन भगवान भरोसे चलता है। तीन, तात्कालिक लाभ वाले रास्ते जाने की पूरी नैतिक छूट मिल जाती है। सभी भारतीय बुद्धिजीवी इस चिंतन-शैली का उपयोग करते हैं। सभी इस की बहुत प्रभावी आभामण्डल बनाने वाली अर्थहीन व्याख्याएँ कर सकते हैं। कोई बिरला ही धर्म के मुद्दे पर साफ बात कर सकता है। नहीं तो वही घिसापिटा हिन्दू झूठ कि सभी धर्म एक ही बात कहते हैं।

धर्म पर यह चिंतन राजनेताओं को बिना विश्वास के पूजा और जियारत करने का मौका देता है, बिना रोजा रखे इफ्तार का अवसर देता है। यही नहीं, इस पाखण्ड को धार्मिक सद्भाव फैलाने वाले कामों के रूप में प्रचारित करने को बढ़ावा भी देता है। दूसरी तरफ इसी चिंतन के चलते धर्म पर करारे सवाल उठाने को अशोभनीय करार दे दिया जाता है। परिणामतः धार्मिक मान्यताओं पर स्वस्थ एवं विवेकसम्मत संशय सार्वजनिक संवाद से बाहर हो जाते हैं। वे आपसी निजी बातचीत और अतिसीमित अकादमिक लेखन भर तक सिकुड़ कर रह जाते हैं। यह स्थिति कट्टरता के हिमायतियों को अपने पैर फैलाने की खुली छूट दे देती है। पिछले पचास वर्षों में यही होता रहा है। धार्मिक कट्टरतावादी बिना किसी चुनौती का सामना किये अपने अपने दायरे बढ़ाते रहे हैं। राजनैतिक पार्टियां अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने के लिए किसी पंथ-निरपेक्ष राजनैतिक चेतना के कार्यक्रम हाथ में लेने की बजाय धर्म के आस-पास फैलती विचारहीन भावना को भुनाती रही हैं। अतः धर्म के नाम पर गोलबन्दी करने वाले राजनैतिक समूहों का वर्चस्व बढ़ना स्वभाविक ही था। धार्मिक गोलबन्दी को आधार बनाने वाले दलों की बढ़ती ताकत अब धर्मनिरपेक्षता एवं लोकतंत्र के लिए खतरा बनने लगी है।

इस खतरे से वैचारिक मोर्चे पर लड़ना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक मोर्चे पर लड़ना। वास्तव में ये सारे मोर्चे अलग-अलग हैं ही नहीं। मानवीय समता, स्वतंत्रता एवं लोकतंत्र को बचाने एवं मजबूत करने के एक ही प्रयास की विभिन्न अभिव्यक्तियां मात्र हैं। यदि हम धार्मिक विद्वेष का वैचारिक स्तर पर प्रतिरोध करना चाहते हैं तो कई चीजों पर नये सिरे से और साफ-साफ सोचना होगा। इन चीजों में से पहली है धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा। इस पर काफी लिखा जा चुका है कि सर्वधर्म समभाव सेक्यूलरिज्म

नहीं है। सर्वधर्म समभाव किसी पुख्ता वैचारिक आधार पर खड़ा नहीं हो सकता। यह शायद बौद्धिक आलस और विवेक सम्मत राह पर चलने में आवश्यक साहस की कमी को ढंकने का तरीका है। साथ ही थोड़ी असुरक्षा की भावना और थोड़ा सा छद्म भी इस के मूल में पाया जा सकता है। अतः यह विचार एक ऐसी धर्मनिरपेक्षता का आधार नहीं बन सकता जो समता एवं लोकतंत्र के लिए आवश्यक है। एक बहुलतावादी समाज में व्यक्तिगत स्तर पर लोग भले ही सर्वधर्म समभाव को अपना आदर्श मानें – ठीक वैसे ही जैसे किसी धर्म विशेष को मानते हैं या किसी भी धर्म को नहीं मानते हैं – पर जहां तक राज्य का सवाल है उसे सभी धर्मों के पूरी तरह निरपेक्ष – बेलाग और अप्रभावित – रहने की जरूरत है। इस वक्त हमें धर्मनिरपेक्षता की धुंधली और नरम परिभाषा नहीं चाहिये, स्पष्ट और दृढ़ परिभाषा चाहिये। दूसरी बात यह है कि हम सभी धर्मों को अपनी बात कहने की, अपना प्रचार-प्रसार करने की छूट तो देते रहे हैं पर धर्म की और ईश्वर की धारणा पर तीखे सवाल करने वालों को यह छूट उपलब्ध नहीं रही है। एक बहुलतायुक्त समाज में अपनी बात कहने की स्वतंत्रता उन लोगों को भी मिलनी ही चाहिए जो धर्म के आलोचक हैं। यह आवश्यक है कि लोग सभी प्रकार के विमर्श को सहन करना सीखें। अपनी भावनाओं के आहत होने के ढोंग को नियंत्रित करना सीखें। दूसरे विचार को भी अभिव्यक्ति का हक है। इसे स्वीकारना सीखें। वैसे भी वैचारिक खुलेपन के लिए संशय का पुट आवश्यक है। दूसरों के धार्मिक विचारों को केवल वे ही लोग सहन कर सकते हैं जो अपने विश्वासों को सौ फीसदी अंतिम सत्य न मानते हों। जो व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वासों को अंतिम सत्य मान बैठता है वह फिर और किसी विचार को पनपते नहीं देख सकता। अतः सद्भाव पूर्ण सह-अस्तित्व के लिए अपनी मान्यताओं पर संदेह का पुट एक आवश्यक तत्व है। इस संदेह को सतत् आलोचना ही जिंदा और तरोताजा रख सकती है। अतः सभी धार्मिक विश्वासों का खण्डन-मण्डन उसी खुलेपन से होना चाहिये जैसे वैज्ञानिक विचारों का होता है। किसी विचार या किसी व्यक्ति या किसी कथित भगवान को इस आलोचना के दायरे से बाहर रखने की आवश्यकता नहीं है।

तीसरी बात यह है कि हमें सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रतीकों में अधिक साफ अंतर करना सीखना होगा। यह ठीक है कि यह काम मुश्किल है, यह भी ठीक है कि प्रतीक के अर्थ एक हद तक बदलते भी रहते हैं। अतः जो प्रतीक आज सांस्कृतिक करार दिया जाता है वह कल धार्मिक आयाम ग्रहण कर सकता है। इन कठिनाइयों के बावजूद हमें भारतीय इतिहास में से ऐसे प्रतीक ढूँढने होंगे जो धार्मिक आयामों से स्वतंत्र होकर सांस्कृतिक रूप से हमें अपने लगे। बहुत बार ऐसे प्रतीक राष्ट्रीय जरूरतों में बनते हैं, पुनः परिभाषित होते हैं। अशोक चक्र एक ऐसा ही प्रतीक है। क्योंकि इस में धर्म चक्र भी शामिल है, अतः कभी यह जरूर बौद्ध धर्म से भी संबंधित रहा है। पर वर्तमान भारत में वह हमारा सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय प्रतीक है। उसका धार्मिक आयाम सक्रिय नहीं है। राज्य के क्रियाकलापों को धर्म से निरपेक्ष रखने की आवश्यकता है। पर संस्कृति से निरपेक्ष रखना न तो उचित है न ही संभव। अतः धर्म और संस्कृति के रिश्ते पर और चिंतन की, स्पष्टता की जरूरत है।

चौथी बात यह है कि हमें धर्म के तुलनात्मक अध्ययन और उसकी बेबाक विवेचना को शिक्षा में स्थान देना होगा। उच्च प्राथमिक स्तर पर बच्चों को धर्मों के समालोचनात्मक अध्ययन का अवसर मिलना चाहिये। अभी हम सभी धर्मों की वास्तविक और मनगढ़ंत अच्छाइयों का ढिंढोरा तो पीटते रहते हैं। पर उनके अन्याय, अत्याचार और मूर्खताओं को छुपाते हैं। हमें नवीं कक्षा से ऊपर के बच्चों के सामने धर्म के दोनों चेहरे रखने चाहियें। उन को विचार करने, विवेचना करने का अवसर देना चाहिये।

ये चीजें हमारी दुविधाग्रस्त धर्मनिरपेक्षता को शायद कुछ ताकत दें और शायद वह दिन-दुगुने-रात-चौगुने बढ़ते धार्मिक विद्वेष से मुकाबला करने में समर्थ हो सके ! आमीन ! ♦